

प्राचीन भारत में नारी की स्थिति : एक ऐतिहासिक अध्ययन

सारांश

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। हिन्दू समाज में उनका सम्मान और आदर प्राचीन काल से आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त था। उनकी अवस्था पुरुषों के सदृश थी। वे अपना मनोनुकूल आत्मविकास और उत्थान कर सकती थीं। उन्हें विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे। कन्या के रूप में तथा माँ के रूप में वे हिन्दू परिवार और समाज में आदृत थीं। उनके प्रति समाज की स्वाभाविक निष्ठा और श्रद्धा रही है। परिवार और समुदाय में उनके द्वारा कन्या, पत्नी, वधू और माँ के रूप में किये जाने वाले योगदान का सर्वदा महत्व और गौरव रहा है। भारतीय धर्मशास्त्र में नारी सर्व-शक्ति-सम्पन्न मानी गई तथा विद्या, शील, ममता, यश और सम्पत्ति की प्रतीक समझी गई। गृह की साम्राज्ञी के रूप में उसे प्रतिष्ठापित किया गया तथा घर के अन्य सदस्यों को उनके शासन में रहने के लिए निर्देशित किया गया। इस प्रकार स्त्री पुरुष की 'शरीराद्ध' और 'अर्द्धाग्निनी' मानी गई तथा 'श्री' और 'लक्ष्मी' के रूप में वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्ति और पुंजित करने वाली कही गई है।

मुख्य शब्द : प्राचीन भारत, स्त्री, विवाह, धर्म सूत्र, पति, उच्च वर्ग समाज।

प्रस्तावना

प्राचीन भारत में महिला कन्या, पत्नी, माता एवं विधवा के रूप में भारतीय, पोषणीय एवं रक्षणीय थी किन्तु कोई न कोई पुरुष उसकी देख-रेख करता था, और वह अभिभावक के नियंत्रण में रहने को बाध्य थी। वर्ण विभाजित पितृ-प्रधान समाज में महिलाओं को सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टि से पराधीन करने के प्रयत्न किये गये तथा उनके अधिकारों को समान नहीं माना गया। सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में उन्हें कुछ अधिकार दिये गये, किन्तु कुछ ऐसी स्वतंत्रतायें थीं, जिनसे स्त्रियां वंचित थीं। स्त्री और पुरुषों के निजी और सामाजिक आचरण की अच्छाई के मानदण्ड भिन्न थे। व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर नारी पर प्रभुत्व और अधिकार स्थापित कर उसे अधीनस्थ करने का प्रयत्न किया गया जो सामन्ती मानसिकता का लक्षण है¹। महिलाओं के विवाह, विवाह-विच्छेद, विधवा पुनर्विवाह, बहुपत्नी, प्रथा, पर्दा प्रथा, सती प्रथा एवं यज्ञ-निषेध तथा सम्पत्ति संबंधी अधिकार जैसे सभी विषयों में इस सामन्ती प्रवृत्ति का संकेत मिलता है।

जितेन्द्र सिंह नौलखा
असिस्टेंट प्रोफेसर,
प्राचीन इतिहास विभाग,
के०एन०पी०जी० कॉलेज,
ज्ञानपुर, भदोही (उ०प्र०)

विनोद कुमार
शोध छात्र
प्राचीन इतिहास विभाग
के०एन०पी०जी० कॉलेज,
ज्ञानपुर, भदोही (उ०प्र०)

Anthology : The Research**अध्ययन का उद्देश्य**

यद्यपि प्राचीन भारतीय परिवार में अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित थे, किन्तु स्मृतिकारों ने आठ प्रकार के विवाहों को मान्यता दी है। ये आठ प्रकार हैं— ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस एवं पैशाच¹। पैशाच विवाह में कन्या का छल कपट से बलात् हरण कर लिया जाता था। राक्षस विवाह में स्त्री का विवाह युद्ध की लूट में किया जाता था। इसमें विजेता कन्या का हरण करके साथ विवाह करता था। आसुर विवाह के अन्तर्गत पति कन्या के बदले में उसके पिता को यशाशक्ति धन देता था अर्थात् क्रय-विक्रय के आधार पर विवाह किया जाता था। गांधर्व विवाह को हम प्रणय विवाह भी कह सकते हैं। मनु के अनुसार जब कन्या और वर कामुकता के वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक संयोग करते हैं तो विवाह के उस प्रकार को गान्धर्व कहते हैं। इस विवाह में धार्मिक क्रियायें सहवास के पश्चात् ही होती हैं। वैदिक काल में गांधर्व विवाह बहुत प्रचलित था। कामसूत्र इसे आदर्श विवाह के रूप में मानता है। महाभारत में इसे एक स्थान पर प्रशस्त विवाहों को कोटि में रखा गया है किन्तु बाल विवाह के प्रचलन के पश्चात् कालान्तर में इसे अप्रशस्त कोटि में रख दिया गया।

ब्राह्म विवाह² में पिता किसी सुयोग्य वर को आमंत्रित करके विधिपूर्वक उसे अपनी कन्या कुछ उपहार के साथ अर्पित करता था। वधूदान की वस्तु समझी गयी थी, किन्तु साथी के रूप में नहीं। आर्ष विवाह में वधू का पिता अपने जमाता से एक गाय और बैल लेता था। इसलिए कुछ लोगों ने इसे भी आसुर का ही एक रूप माना है किन्तु अन्य लोग इस उपहार को वधू का मूल्य नहीं मानते। दैव विवाह के अन्तर्गत यज्ञ करने वाला अपनी पुत्री को किसी पुरोहित को अर्पित कर देता था। प्रजापत्य विवाह में पिता अपनी पुत्री का पाणिग्रहण योग्य वर के साथ नागरिक एवं धार्मिक कर्तव्यों के पालन के लिए करता है इसका लक्ष्य प्रजापति के प्रति अपना ऋण चुकाने अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने के लिए

एवं उसके पालन-पोषण के लिए किया जाता था। साहित्य में वर्णन मिलता है विवाह के ब्राह्म, दैव, प्रजापत्य और आर्ष प्रकार धर्म्य हैं³ क्योंकि इनमें केवल पिता की सहमति ही आवश्यक है। कौटिल्य के अनुसार इसमें धर्म्य होने के तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि इनमें पितृ सत्तात्मक तत्व प्रमुख हैं। विवाह के अधर्म अथवा अस्वीकृत प्रकारों में पिता और माता दोनों की सहमति आवश्यक है⁴। इनमें पितृ सत्तात्मक तत्व प्रमुख नहीं है। परम्परागत विवाह के सम्बन्ध में कन्या इतनी पराधीन थी कि विवाह योग्य अवस्था होने पर योग्य वर के अभाव में अयोग्य वर से ही उसका विवाह कर दिया जाता था।

अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध

यद्यपि धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के समय सामान्यतः समानवर्ण (सवर्ण) की कन्या के साथ विवाह किया जाता था किन्तु अन्तर्जातीय विवाह के अन्तर्गत अनुलोम विवाह भी मान्य था। यद्यपि प्रायः ऐसे विवाह ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के बीच ही सीमित था⁵ किन्तु सामान्यतः शूद्र स्त्री पसन्द नहीं की जाती थी। सभी धर्मशास्त्र प्रायः उच्च वर्ग की कन्या के साथ निम्न वर्ण के पुरुष के विवाह (प्रतिलोम विवाह) का विरोध करते हैं किन्तु शास्त्रीय नियम संकेत करते हैं कि प्रतिलोम विवाह भी प्रचलित थे। अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों के विवेचन से संकेत मिलता है कि उच्चवर्ण की महिलाओं में वह वैवाहिक स्वतंत्रता नहीं थी जो निम्न वर्ण विशेषतः शूद्र वर्ण में थी। उच्च वर्ण की महिला प्रायः सवर्ण विवाहों तक ही सीमित थी जबकि निम्नवर्ण की महिला का विवाह चारों वर्णों में होता रहा और वह अपनी स्थिति श्रेष्ठकर करती रही। उच्च वर्ण में अन्तर्जातीय विवाह प्रधानता ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के बीच सीमित थे।⁶ अलबरूनी के अनुसार तो ब्राह्मणों के लिए असवर्ण विवाह अप्रचलित ही हो चुके थे।

प्राचीन काल में कन्याओं का विवाह प्रौढ़ावस्था में होता था किन्तु धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में युवावस्था के पूर्व ही कन्याओं के विवाह की संस्तुति की गयी है। गौतम के

Anthology : The Research

अनुसार युवा होने के पूर्व ही कन्या का विवाह कर देना चाहिए। याज्ञवल्क्य⁷ और नारद भी इसी मत का समर्थन करते हैं। ब्रह्मापुराणों⁸ के अनुसार कन्याओं का विवाह चार वर्ष की आयु में भी किये जाने लगे। अलबरूनी के अनुसार 11वीं शताब्दी में बाल-विवाह हिन्दू परिवार में सामान्य हो गया था। बाल विवाह का प्रचार होने से उपनयन के अभाव में स्त्रियों को शूद्र समझा जाने लगा था।⁹ जिससे यज्ञ एवं मंत्रोच्चारण का अधिकार भी छिन जाना स्वाभाविक था। अब पति सेवा और पतिव्रत का महत्व अधिक हो गया और परिवार के सास-ससुर आदि की सेवा प्रमुख हो गयी। जब कन्याओं का विवाह कम आयु में होने लगा तो उनकी शिक्षा भी कम हो गयी किन्तु उच्च परिवार की कन्याओं को साहित्य, कला, आयुर्वेद, युद्ध एवं प्रशासन आदि की शिक्षा दी जाती थी और उनका विवाह भी यौवनांरभ के बाद होता था।

बाल विवाह के कारण जहां एक ओर कन्याओं को पति के चुनाव से वंचित किया गया वहीं बाल वैधव्य की स्थिति ने उन्हें असहाय बना दिया। बाल विधवायें न नियोग कर सकती थीं न पुनर्विवाह¹⁰ और न ही आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र थीं। उपनयन के अधिकार से वंचित होने के कारण उनके धार्मिक अधिकारों पर बुरा प्रभाव पड़ा और शूद्रों के समान न तो वे वेदों के मंत्रों का उच्चारण कर सकती थीं और न यज्ञों में भाग ले सकती थीं। इस प्रकार बाल विवाह ने उच्च वर्ग की महिलाओं के सामाजिक आर्थिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता का हनन किया और वे परतन्त्र होती गयीं।

वेदाध्ययन एवं यज्ञ पर प्रतिबंध

स्मृतिकाल¹¹ तथा ईसाई युग के प्रारंभ होने के लगभग तक स्त्रियों के लिए वेद ज्ञान की प्राप्ति समाप्ति कर दी गयी थी यद्यपि रूढ़िवादी समुदायों ने इस बात को नहीं माना।¹² उपनयन संस्कार पर प्रतिबंध के कारण महिलाओं के लिए वेदाध्ययन एवं अग्निहोत्र कर्म वर्जित हो गये¹³। मनु के अनुसार स्त्रियों के लिए पृथक (पति के बिना)

यज्ञ नहीं है और (पति के अभाव में) न व्रत है और न ही उपवास। पति के सेवा से ही स्त्री स्वर्गलोक में पूजित होती है। गौतम ने श्रौत तथा स्मार्त धर्मों में स्त्री को अस्वतन्त्र बताया। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि स्त्रियों के लिए विवाह ही उपनयन संस्कार समझना चाहिए। महाभारत में कर्मानुष्ठानों के अवसर के संबंध में महिलाओं और शूद्रों की अपवित्रता का संकेत किया गया है। भगवत् पुराण में कहा गया है कि स्त्रियों एवं शूद्रों के लिए महाभारत ही वेद है।

जहां गुप्तकाल से पूर्व ब्राह्मण धर्म की कट्टरपंथी महिलाओं के धार्मिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगाकर उनकी स्वतंत्रता को बाधित किया गया है वहीं सुधारवादी वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इस बात पर हमेशा जोर डाला जाता रहा कि कृष्ण, नारायण या वासुदेव की भक्ति द्वारा स्त्रियों और शूद्रों को भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है।¹⁴ इसी प्रकार वायु पुराण का कथन है कि जो वैश्व, स्त्रियां और शूद्र ब्राह्मण के मुंह से दक्ष-शिव युद्ध की कथा सुनते हैं वे रुद्रलोक में स्थान पाते हैं। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि शैव सम्प्रदाय का द्वार भी वैश्यों, शूद्रों एवं स्त्रियों के लिए समान रूप से खुला था।¹⁵ धार्मिक दृष्टि से मनु स्त्रियों एवं शूद्रों को समाज का अत्यन्त अपवित्र अंग मानते थे¹⁶ किन्तु सुधारवादी तन्त्र शास्त्र में उनके अधिकारों में वृद्धि कर दी गयी तथा महिलायें पुरोहित, एवं सन्यासिनी के रूप में कार्य करने लगीं। जैन एवं बौद्ध शिक्षिकाओं (भिक्षुणियों) ने भी साहित्य एवं शिक्षा के प्रसार में बड़ा योगदान किया।

विवाह विच्छेद करने का अधिकार

प्राचीन भारत में विवाह को ऐसा संस्कार समझा जाता था जिसमें किसी भी परिस्थिति में विच्छेद संभव न था। स्त्रियों को किसी भी दशा में पति को तलाक देने का अधिकार न था। मनु के अनुसार तो पति यदि पत्नी को बेच दे या छोड़ दे तो भी पत्नी को उसका तलाक देने का अधिकार नहीं है। कन्यादान केवल एक बार होता है। उसके अनुसार पति-पत्नी का संबंध जीवन पर्यन्त के

Anthology : The Research

लिए होता है। अन्य धर्मशास्त्रों से ज्ञात होता है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में पत्नी को पति को छोड़ने का अधिकार था। मनु ने स्वयं लिखा है कि यदि पति नपुंसक हो, पागल हो, छूत का रौं हो या ऐसे रोग से पीड़ित हो जिसकी चिकित्सा न हो सके तो यदि पत्नी उसका परित्याग कर दे तो उसे दोष नहीं है।¹⁷ मनु ऐसी स्त्री जिसने पहले पति के साथ सहवास न किया हो दूसरे पुरुष से विवाह करने का भी अधिकार देता है। उसके अनुसार जिस स्त्री को पति ने छोड़ दिया हो या जो विधवा हो गयी हो यदि वह अपनी इच्छा से दूसरा विवाह करे और पुत्र उत्पन्न करे तो उस संतान को पौनर्भव कहते हैं। इस दूसरे विवाह से उत्पन्न संतान को पिता का कानूनी उत्तराधिकारी समझा जाता था, किन्तु यह विवाह विच्छेद की स्थिति नहीं है, क्योंकि वह स्त्री अपनी इच्छा से दूसरे पुरुष से विवाह करती थी।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि समाज ने लगभग ईसवी शती के आरंभ तक पत्नी द्वारा विवाह-विच्छेद के अधिकार को स्वीकार नहीं किया। वह स्त्री जो समाज के दृष्टिकोण की परवाह न करके अपनी इच्छा से दूसरे पुरुष से विवाह करने का दुःसाहस करती थी नारद ने ऐसी स्त्री को 'स्वैरिणी' कहा है¹⁸ जिसका अर्थ है— मनमाना आचरण करने वाली ऐसी स्त्री के प्रति निरादर प्रकट किया गया है। पति को विवाह विच्छेद करने की आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि वह एक पत्नी के होते हुए भी दूसरी से विवाह कर ही सकता था। धनी पुरुषों की अनेक पत्नियां होती ही थी। पत्नी को समाज पहले पति के जीवित रहते दूसरे पुरुष से विवाह करने की अनुमति देने को तैयार न था। ऐसी दशा में हिन्दू समाज में विवाह विच्छेद निरर्थक था। किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में भारतीय धर्मशास्त्रों ने स्त्री को दूसरा विवाह करने की अनुमति दी है।

धर्मसूत्र लेखकों के अनुसार यदि किसी ब्राह्मणी स्त्री का पति विदेश गया हो तो उसे पांच वर्ष तक पति के विदेश से लौटने की

प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसके बाद वह दूसरे पुरुष से विवाह कर सकती थी। कौटिल्य के अनुसार स्त्री के केवल दस महीने पति के लौटने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। उसके बाद उस स्त्री को न्यायाधीश से अनुमति लेकर दूसरे पुरुष से विवाह करने का अधिकार है। कौटिल्य ने आसुर, गांधर्व, क्षात्र और पैशाच विवाहों में विवाह विच्छेद की अनुमति दी है। उसने निम्नलिखित दशाओं में तलाक को वैध बतलाया है। जब पति या पत्नी एक दूसरे को घृणा करते हों। यदि पति को पत्नी से अपने जीवन को खतरा हो। ब्राह्मण साहित्य में विवाह विच्छेद के उदाहरण नहीं मिलते किन्तु बौद्ध साहित्य में ऐसे कुछ उदाहरण मिलते हैं¹⁹। ऐसा प्रतीत होता है कि साधारणतया विवाह विच्छेद का प्रचलन केवल समाज के निम्नलिखित वर्गों में था। जब किसी शूद्र पिता की पुत्री का अपने पित से विरोध होता था तो वह उसका विवाह दूसरे पुरुष से कर देता था। परन्तु अन्य वर्गों में विवाह विच्छेद बहुत ही कम होता था।

पांचवीं सदी ई०पू० से तप और ब्रह्मचर्य पर बहुत बल दिया गया, अतः स्त्रियों का दूसरा विवाह करना अनैतिक समझा जाने लगा। समाज के अनुसार पति कितना ही अनैतिक आचरण क्यों न करता हो पत्नी को उससे विवाह विच्छेद नहीं करना चाहिए। किन्तु यह विचार समाज के निम्न-स्तरीय वर्गों ने स्वीकार नहीं किया। वे पति का व्यवहार ठीक न होने पर अपनी पुत्री का विवाह दूसरे पुरुष से कर देते थे जैसा कि सत्रहवीं शती में लिखे गए गंध 'शूद्र कमलाकर' से स्पष्ट है।

पतियों को अप्रिय बोलने मात्र पर ही पत्नी से अप्रसन्न होकर विवाह विच्छेद करने का अधिकार था।²⁰ धर्मशास्त्रकार आशा करते हैं कि पत्नी शराबी और रोगी पति की भी सेवा करे। यदि वह ऐसा न करे तो पति उससे वस्त्राभूषण लेकर तीन मास बाद उसे छोड़ सकता था।²¹ जब कन्याओं का विवाह कम अवस्था में होने लगा तो वे उच्च शिक्षा भी प्राप्त न कर सकी। ऐसी दशा में पति उनके साथ मनमाना अत्याचार करने लगे। मनु

Anthology : The Research

के अनुसार कन्यादान केवल एक ही बार होता है। अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी विवाह का जीवन भर चलने वाले बंधन बतलाया है। मनु का मत था कि यदि पति दूसरी स्त्री से विवाह कर ले तो उसकी पहली पत्नी को अपने माता के पास रहने का अधिकार है। मनु जैसा हम ऊपर कई चुके हैं पति के छोड़ी हुई स्त्री को, या विधवा को फिर अपनी इच्छा से प्रेरित होकर विवाह करके पुत्र उत्पन्न करने की अनुमति देते हैं किन्तु विवाह विच्छेद की अनुमति नहीं देते⁷³। चौथी शती ई0 तक पत्नी की स्थिति पति की अपेक्षा बहुत निम्न हो गयी। इस पर भी पति के नष्ट हो जाने, मर जाने, सन्यासी हो जाने, नपुंसक होने और पतित होने पर स्त्री को दूसरे पुरुष से विवाह करते की अनुमति दी गयी है।²² इसका यह अर्थ है कि इन पांच परिस्थितियों में स्त्री पहले पति को छोड़ सकती थी परन्तु इसका अर्थ विवाह विच्छेद नहीं हो सकता। गौतम के अनुसार सत्री का सतीत्व नष्ट हो जाने पर भी पति को उसके भोजन वस्त्र और रक्षा का प्रबंध करना चाहिए।²³ याज्ञवल्क्य व्यभिचारिणी पत्नी को भी गर्भवती होने पर ही परित्याग करने की अनुमति देते हैं।²⁴ व्यास के अनुसार तो व्यभिचारिणी स्त्री भी मासिक धर्म के बाद शुद्ध हो जाती है।²⁵ ऐसी दशा में हिन्दू समाज में विवाह विच्छेद का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दू विवाह के बाद सामान्यतः विवाह विच्छेद की स्थिति संभव नहीं है। पत्नी को त्याग देने के बाद भी पति को उसके भरण-पोषण और रक्षा का प्रबंध करना पड़ता था। किन्तु जब पत्नी दूसरा विवाह कर लेती थी तो उसके भरण-पोषण और रक्षा का उत्तरदायित्व पहले पति पर नहीं रहता था और पत्नी को भी पहले पति के प्रति कोई जिम्मेदारी नहीं रहती थी। इस परिस्थितियों को हम विवाह विच्छेद की स्थिति कह सकते हैं।

नियोग एवं विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध

वेदों एवं महाकाव्यों की परम्परा में नियोग प्रथा को किसी विशेष वर्ण तक सीमित नहीं किया गया है। यद्यपि उनमें इस प्रथा के

अधिकांश उदाहरणों के सम्बन्ध क्षत्रिय राजकुमारियों से और यदा-कदा ब्राह्मणों से हैं फिर भी परवर्ती काल में स्मृतियों ने इसे शूद्रों तक सीमित कर दिया। मनु का मानना है कि जो विवाह मंत्रों के अनुसार सम्पन्न किया जाये उसमें नियोग नहीं हो सकता है। मनु फिर कहते हैं कि नियोग और विधवा पुनर्विवाह शास्त्रज्ञ द्विज की दृष्टि में पशुधर्म और गर्हित है। इससे संकेत मिलता है कि उसे अपनाने में शूद्र अपवाद है क्योंकि शूद्रों के विवाह में वैदिक मंत्र निषिद्ध है। याज्ञवल्क्य²⁶ पर टीका करते हुये विश्वरूप का कथन है कि नियोग से सम्बन्धित स्मृतियों के मूल पाठों में शूद्रों का उल्लेख है और यह प्रथा शूद्रों में प्रचलित थी। पूर्व मध्यकालीन अन्य प्रमाणों में भी श्रेष्ठतर वर्गों में विधवा विवाह कालातीत बताया गया है। आदिपुराण के अनुसार विधवा विवाह नहीं करना चाहिए। श्रेष्ठतर वर्गों की विधवा विवाह विरोधी भावनायें हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित²⁷ में भी व्यक्त की गयी है किन्तु प्रतिबन्धों के बावजूद कुछ वैश्यों एवं निम्नवर्गों में विधवा विवाह चलते रहे हैं।

नियोग प्रथा के विरोध के कारण विधवा की निर्भरता पति के माता-पिता एवं अन्य सम्बन्धियों पर अधिक बढ़ने लगी। विधवाओं को जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारिणी की तरह रहकर शरीर को क्षीण करने का निर्देश दिया गया।¹⁰⁰ पुराणों में उसके लिए सन्यासी की जीवन-वृत्ति बताई गयी।²⁸ वे युवती विधवायें जो ब्रह्मचर्य एवं साधना के मार्ग को कठिन मानती थी अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए अपने पति की चिता की लपटों में स्वयं को समर्पित करने लगीं। कुछ विधवायें जो न सती हो सकती थीं और न आदर्शमय साधना का जीवन बिताने की क्षमता रखती थीं रखैल का जीवन जीने को बाध्य होने लगीं। याज्ञवल्क्य²⁹ एवं विष्णु संभवतः पहले स्मृतिकार थे जिन्होंने विधवा के पुत्र न होने पर भी उसके सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार किया जिसका बहुत विरोध किया गया। वृहस्पति ने भी अपुत्र मृत पुरुष की संपत्ति को उसकी पतिव्रता पत्नी को देने का समर्थन किया।³⁰

Anthology : The Research

इसी प्रकार दायभाग एवं मिताक्षरा में विधवा के उत्तराधिकार को एक सीमित अर्थ में स्वीकार किया गया और पूर्व मध्यकाल में उसके सम्पत्ति संबंधी उत्तराधिकारी को मान्यता दी गयी किन्तु व्यावहारिक स्तर पर उसकी स्वीकृति हर जगह नहीं हुयी, विशेषतः गुजरात एवं राजस्थान में।

इस प्रकार नियोग, विवाह एवं सम्पत्ति संबंधी प्रतिबन्धों ने विधवाओं की स्वतंत्रता का अपहरण कर उन्हें पति के सम्बन्धियों पर आश्रित कर दिया किन्तु निम्नवर्ग एवं जनजातीय समूहों में महिलाओं की यह पराधीनता परिलक्षित नहीं होती क्योंकि वे आर्थिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से अधिक स्वाधीन थी।³¹

ऋग्वेद निश्चित रूप से यह बताता है कि युवक तथा युवतियां स्वच्छन्दतापूर्वक एक दूसरे से मिलते-जुलते थे और इसका कोई प्रमाण नहीं देता कि विवाहित स्त्रियां किसी प्रकार भी अलग रखी जाती थीं परन्तु अर्थशास्त्र के विस्तृत आदेशों से यह स्पष्ट होता है कि अन्तःपुर की भली प्रकार रक्षा की जाती थी तथा उसमें रहने वाली स्त्रियों को स्वच्छन्दपूर्वक बाहर जाने की आज्ञा दी जाती थी।³² निश्चित से उनको इतनी कठोरता पूर्वक पृथक नहीं रखा जाता था जितना कि उत्तरकालीन मध्यकाल में रखा जाता था। जो भी हो, सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि भारत में पर्दे का प्रारंभ ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में समाज के कुछ वर्गों, विशेषतः राजपरिवारों में हुआ।³³ ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में भी पर्दे की प्रथा का वृत्तान्त में स्त्री के पर्दे का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। परन्तु साहित्य से उच्चवर्ग की स्त्रियों के पर्दे की प्रथा की जानकारी प्राप्त होती है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम³⁴ में कहा है कि जब शकुंतला राजा दुष्यन्त के दरबार में गयी तो उसने अपने मुखे को अवगुंठन से ढक लिया। बाणभट्ट ने हर्षचरित में राज्यश्री को 'मुख पर लाल रेशम का पर्दा डाले हुये' चित्रित किया है।

यद्यपि प्रारंभिक अरब यात्रियों ने यह उल्लेख किया है कि हिन्दू दरबारों में रानियां बहुधा बिना पर्दा के उपस्थित होती थी तथा अनेक प्रसंगों से ज्ञात होता है कि यद्यपि जनता से उनका पर्दा कराया जाता था और भली प्रकार उनकी देखरेख की जाती थी परन्तु मुस्लिम प्रथा की भांति रानियां पूर्णतः पहुंच से बाहर नहीं होती थी। मुस्लिम काल में उत्तरी भारत के हिन्दुओं ने जिस पर्दा प्रथा को अपनाया उसमें तरूणावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक स्त्रियों को अपने पतियों तथा निकट सम्बन्धियों के अतिरिक्त अन्य मनुष्यों की दृष्टि से सरलतापूर्वक छिपाया जाता था। यद्यपि प्राचीन भारत में इस प्रकार की प्रथा विद्यमान नहीं थी परन्तु अर्थशास्त्र से पता चलता है कि कोई भी स्त्री जो अपने पति की आज्ञा के बिना दूसरे से भेंट करने जाती है, पति के सोने अथवा मदिरा पीने पर गृह त्याग करती है, घृष्टापूर्वक क्रीडा में भाग लेती है अथवा मदिरापान करती है तो वह दण्डनीय है।³⁵

अतः यह कहा जा सकता है कि वर्ण विभाजित पुरुष प्रधान समाज में नारियों को सम्पत्ति की तरह सुरक्षित रखने और पवित्रता, धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए उन्हें संयमित एवं मर्यादित कर पर्दे में रखने के पीछे उन्हें पराधीन तथा परतन्त्र करने की प्रवृत्ति होती है। बौधायन के धर्मसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि वैश्यों और शूद्रों की पत्नियों अपेक्षाकृत स्वतन्त्र हैं क्योंकि ये कृषि और सेवा के कार्यों में संलग्न रहती है।³⁶ जिस प्रकार रोम में स्त्रियों एवं दासों के साथ व्यवहार किया जाता था उसी प्रकार यहां वर्ण विभाजित पितृ सत्तात्मक समाज में स्त्रियों एवं शूद्रों को एक ही श्रेणी में रखा जाता था।

सती प्रथा के स्पष्ट उदाहरण चौथी शताब्दी ई0पू0 से मिलने लगते हैं, विशेषकर राजघरानों एवं बड़े-बड़े वीरो के परिवारों में किन्तु इसका अधिक प्रचलन चौथी से सातवीं शताब्दियों से मिलने लगता है। बाण ने अपनी रचना कादम्बरी में इस प्रथा का विरोध करते हुए घोर निन्दा की है। बाण सातवीं शताब्दी

Anthology : The Research

के लेखक हैं। इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि सती प्रथा को बल मिल रहा था किन्तु फिर भी कुछ साहित्यकार एवं विद्वान इस काल तक इस प्रथा का घोर विरोध कर रहे थे। बाणभट्ट ने अनुसरण के विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डाला है जिनमें केवल मृत व्यक्ति की विधवा आत्मदा द्वारा पति का अनुगमन नहीं करती अपितु उस मृतक के सम्बन्धी एवं मित्रगण भी उसका अनुगमन करते हैं।

निष्कर्ष

समाज को उदार, आदर्श और सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए यह अपेक्षित था कि स्त्री का चरित्र और आचरण उज्ज्वल और सुसंस्कृत हो। स्त्री के चरित्र और व्यवहार से परिवार और समाज का उत्कर्ष होता है। उसकी नैतिकता, चारित्रिक सौष्ठव और निष्ठा से कुटुम्ब की गरिमा बनती है। नारी के प्रति हिन्दू समाज का व्याहार दिनों-दिन कठोर होता गया। उत्तरवैदिक काल से पुरुष का उसके प्रति अविश्वास तथा अनुत्तरदायित्व की भावना बढ़ती गई। उसे हीन और निम्न भावना से देखा जाने लगा। बौद्ध युग में भी स्त्रियों की स्थिति कोई विशेष अच्छी नहीं थी। उनके प्रति तत्कालीन समाज की भावना ग्रन्थियुक्त थी। स्वयं महात्मा बुद्ध ने अपने प्रारम्भिक काल में स्त्रियों को संघ-प्रवेश की अनुमति नहीं दी थी। नारी में केवल दोष ही दोष थे, ऐसी बात नहीं। उनमें, अनेकानेक गुण थे, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वस्तुतः वह समाज में देवी और 'श्री' के रूप में आदृत और सम्मानित थी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. यादव, बी०एन०एस०, प्रेसीडेन्सियल ऐंज़ेस, प्राचीन भारत, मुम्बई सेंशन ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1980।
2. गृहस्थ काण्ड (लक्ष्मीधर), पृ० 76, मनुस्मृतियाँ, 3.20-34, प्रभु पी०एच०, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पापुलर प्रकाशन, बम्बई, चतुर्थ सं०, 1963, पृ० 151-152।

3. गौतम, चतुर्थ 14-15, विष्णु चौदह, 27-28 नारद० बारह 44, आदि पर्व, 67. 10
4. अर्थशास्त्र, 2-पितृ प्रमाणाश्चकारः पूर्वे धर्म्याः मातृप्रमाणशेषः
5. आर०एस० शर्मा, प्राचीन भारत....., पृ० 80।
6. आर०एस० शर्मा, वही, पृ० 80।
7. याज्ञवल्क्यक, 1.64
8. ब्रह्माण्डपुराण, 165
9. आर०एस० शर्मा, वही, पृ० 67
10. मनुस्मृति, नौ 66, याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.69
11. मनुस्मृति, 2.67, 11.36-37
12. वाशम, अद्भुत भारत, पृ० 126
13. मनुस्मृति, 2.66-67, वही, 11.36-37
14. भगवद्गीता नौ .32, भागवतपुराण, ग्यारह.7.54-55, ग्यारह.5.4, शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ० 255।
15. आर०एस० शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० 255
16. मनुस्मृति, दस 126
17. मनुस्मृति, 9.79
18. काणे, पांडुरंग वामन-हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग 1, पृ० 608
19. धम्मपद 2.82 और उसकी टीका, थेरीगाथा 72 और उसकी टीका
20. संघस्त्वप्रिय वादिनी। मनुस्मृति, 9.81
21. मनुस्मृति, 78
22. नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे.....पतिरन्यो विधीयते।।
23. गौतम धर्मसूत्र, 22, 35
24. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1, 70, 72
25. व्यासस्मृति, 2.49-50
26. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.25
27. त्रिषष्टिशलाका, तृतीय 87
28. स्कन्दपुराण, 3.75.1, आदि पुराण, 21.14
29. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.135-136
30. बृहस्पति दायभाग में उद्धृत, 11
31. यादव, सोसाइटी.....पृ० 72, शर्मा, आर०एस०, शूद्रों का प्राचीन इतिहास (1979), पृ० 245
32. वाशम, अद्भुत भारत, पृ० 127

33. अल्टेकर, दी पोजीशन ऑफ बुमेन.....पृ0
169, नेगी, जे0एस0, ग्रा0 व ऑफ ऐ0इ0
हिस्ट्री, पृ0 402
34. झा, डी0एन0 एवं श्रीमाली, के0एम0,
प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 314
35. अयोध्या काण्ड, 67.11-अराजके धनं
नास्ति-नास्ति भार्याप्य राजके, शर्मा,
आर0एस0, प्राचीन भारत.....पृ0 61
36. शान्ति पर्व, 68.15-16